

उपदेश सार-संग्रह

—जयपुर चातुर्मास की अनूठी उपलब्धि

समीक्षक : श्री जगत भंडारी

प्रस्तुत पुस्तक में श्री १०८ देशभूषण जी महाराज के जयपुर चातुर्मास के प्रवचनों का सार संगृहीत किया गया है। प्रातः स्मरणीय, सकल गुण निधान, परमपूज्य, भारत गौरव, विद्यालंकार, धर्मनिष्ठ, स्वस्ति आचार्यरत्न, श्री १०८ आदि अनन्य उपाधियों से विभूषित देश-भूषण जी महाराज का जीवन धर्म, स्वाध्याय, सदाचार, त्याग, संयम, सत्य, संकल्प, परोपकार, तप, विद्या, बुद्धि, विवेक और ज्ञान-तरंगों का असीम सागर है; यह निस्सन्देह इस पुस्तक को आद्योपान्त पढ़कर कहा जा सकता है। भक्तों के धर्मगुरु, जिज्ञासुओं के दिग्दर्शक, ज्ञानपिपासुओं के अक्षय निधि और सांसारिकों के मोक्षग्राम रूप में सद्य विराजमान महात्मा देशभूषण जी के अमृतकुण्ड रूपी मनोमय कोष से प्रसूत यत्र-तत्र बिखरे मणि-मानिकों की भांति संसार के अज्ञानतिमिर को तिरोहित करती उनकी प्रवचन-रश्मियों का प्रकाश-पुंज इस पुस्तक में दर्शनीय है।

मतवादों के दायरे से बाहर, धार्मिक वाद-विवादों से पृथक्, साहित्यिक एवं भाषायी गुटबन्दियों से निरपेक्ष रह कर इस पुस्तक को निष्पक्ष समीक्षात्मक भावना की कसौटी में कसने पर महात्मा देशभूषण जी उपरोक्त सभी विशेषणों के अधिकारी सिद्ध होते हैं। यह उनके तप, त्याग और स्वाध्याय का परिणाम भी है और उनके आराध्य का पावन प्रसाद भी।

अहिन्दी भाषी होते हुए भी हिन्दी में इतने गूढ़ विषयों पर सरल, विमल व तर्कसंगत व्याख्यान वह महापुरुष ही दे सकता है जो स्वयं विवेक का पुंज हो। जैन सम्प्रदाय से सम्बन्धित होते हुए भी सभी भारतीय वेद, शास्त्र, पुराण तथा भागवत, रामायण, श्रीरामचरित-मानस, श्रीमद्भागवत इत्यादि महान् ग्रन्थों से लेकर आधुनिक राष्ट्रकवि स्व० मैथिलीशरण गुप्त की कृतियों तक का अध्ययन, मनन व स्मरण करना उसी महापुरुष का कार्य हो सकता है जो स्वयं सरस्वती मां का वरद पुत्र हो। जैन धर्म से लेकर वैदिक धर्म, भागवत धर्म, वैष्णव धर्म, आर्यसमाज, ईसाई धर्म, इस्लाम धर्म, एकेश्वरवाद, बहुदेववाद, अवतारवाद, निर्गुण-सगुण आदि सभी धर्मों के गहरे अन्तस्तल तक वही महापुरुष पैठ सकता है जो सिन्धु के समान विशाल हो। साधु, ज्ञानी, गृहस्थ, व्यापारी, ठग, ठाकुर, चोर, जालसाज, न्यायाधीश, वकील, नेता, डाक्टर, अध्यापक, कामी, क्रोधी, लालची, मक्कार, याचक, वंचक, सरकारी नौकर, स्वामी-सेवक और शोषक-शोषित सभी के जीवन के यथार्थ का ज्ञान वही महापुरुष रख सकता है जिसका हृदय और मस्तिष्क पुष्प से भी कोमल हो और वज्र से भी कठोर। इस पुस्तक में यह सभी कुछ देखा जा सकता है। इसलिए ये प्रवचन महान् साधु की विलक्षण प्रतिभा के विभिन्न अध्याय हैं।

पुस्तक में विभिन्न विषयों से सम्बन्धित ८४ प्रवचन संगृहीत हैं। इन प्रवचनों में जहाँ स्थान-स्थान पर जैन-सिद्धान्तों को प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया गया है वहीं 'सर्वधर्म समभाव' की मर्यादा का आद्योपान्त निर्वाह किया गया है। पुस्तक में कहीं भी किसी धर्म पर आक्षेप नहीं किया गया है, अपितु उनकी विशेषताओं का बखान करते हुए अपने मत को प्रतिष्ठित किया गया है। इस प्रकार की शैली द्वारा प्रातःस्मरणीय श्री देशभूषण जी महाराज ने अपनी भावनाओं की प्रभावी प्रतिष्ठा भी कर दी और किसी अन्य धर्म पर कोई आक्षेप या कटाक्ष भी नहीं किया।

चाहे किसी भी प्रसंग के प्रवचन पढ़िये, मिलेगी बोलचाल की सुस्पष्ट चुटीली भाषा, सुविश्लेषित भाव, पौराणिक अथवा लौकिक व्यावहारिक कहानी-किस्से और नीतिशतक अथवा अन्य संस्कृत ग्रन्थों के श्लोक एवं तुलसी, कबीर, सूर, मैथिलीशरण गुप्त की कविताओं के अंश अथवा शेरों-शायरी। कहीं भी कोई भेद नहीं, कुछ भी त्याज्य नहीं... और इस समुद्र-मन्थन से हाथ लगते हैं ज्ञान के रत्न।

उदाहरण के लिए 'परोपकार' प्रसंग पर महाराज के प्रवचनों का अवलोकन करें (देखिये पृष्ठ २३०)। विषय की भूमिका बांधते हुए वे कहते हैं—“संसारवर्ती समस्त जीव मोहनीय कर्म से मोहित होकर न तो स्व-उपकार करते हैं न पर उपकार। मोहभाव के कारण उनको जब आत्मश्रद्धा ही नहीं है तो आत्महित की बात उनको सूझेगी भी कैसे।...” इत्यादि। अपनी इस गूढ़ बात को सामान्य बनाते हुए वे कहते हैं—“अपनी समझ से प्रत्येक प्राणी स्वार्थ-साधन में लगा हुआ है, माता के ऊपर भी जब विपत्ति आती है तो अपने आप को बचाने के लिए अपने

पुत्र को भी अरक्षित छोड़ देती है...’ इत्यादि। फिर परोपकार विषयक अपनी बात पर बल देने के लिए स्व० मैथिलीशरण गुप्त की कविता की निम्न पंक्तियां उद्धृत करते हैं—

आभरण इस नर बेह का बस एक पर-उपकार है,
हार को भूषण कहे उस नर को शत धिक्कार है।
स्वर्ण की जंजीर बांधे श्वान फिर भी श्वान है,
धूलि घूसर भी करी पाता सदा सम्मान है ॥

फिर इस पद का सरल भाषा में अर्थ बता कर वे अपने मत की दृष्टि से विषय को बांधते हुए कहते हैं—“अर्हन्त भगवान् इसी कारण जगत्-पूज्य हैं कि अपने दिव्य उपदेश द्वारा समस्त जीवों को अनुपम लाभ पहुंचाते हैं। जनता से कुछ नहीं लेते...” इत्यादि। फिर इस बात को सूक्ति मुक्तावली के इस श्लोक द्वारा स्पष्ट करते हुए प्रमाणित करने की चेष्टा करते हैं—

“आयुदीर्घतरं व पुंवरतरं गोत्रं गरीयस्तरं।
वित्त भूरितरं बल बहुतरं स्वामित्वमुच्चैस्मरम् ॥
आरोग्यं विगतान्तरं त्रिजगति इलाध्यत्वमत्येतरं।
संसाराम्बुनिधिं करोति सुतरं चेतः कृपाद्रीन्तरम् ॥”

इस श्लोक का अर्थ बताने के बाद देशभूषण जी महाराज गिणप गांव के मृगसेन धीवर और उसकी स्त्री घंटा की कहानी सुनाते हैं कि किस प्रकार तपस्वी मुनि जयधन की बात मानकर वह धीवर बिना मछली पकड़े घर आया, किस प्रकार पत्नी के रोष से निष्कासित उसे मन्दिर में सर्प ने काटा, किस प्रकार उसकी पत्नी को भी उसी सर्प ने काटा और दोनों काल कवलित हुए। फिर मछली को जीवनदान देने के कारण किस प्रकार उज्जयिनी में मृगसेन धीवर “सोमदत्त” बनकर आया और किस प्रकार उसकी स्त्री घंटा “बिषा” नामक राजकन्या बनी, किस प्रकार सोमदत्त मृत्यु से चार बार बचा (क्योंकि उसने मछली को चार बार जल में छोड़कर जीवनदान दिया था) और बिषा से उसकी शादी होकर उसे राज्य, सुख और वैभव की प्राप्ति हुई।

इस एक ही प्रवचन के उदाहरण द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि परम श्रेष्ठ देशभूषण जी महाराज सभी धर्म-शास्त्रों से सार ग्रहण करने में संकोच नहीं करते और परस्पर ताल-मेल द्वारा अपने मत को प्रतिष्ठित करते हैं। उनका दृष्टिकोण उदार है और उन्हें “स्वधर्म” की लीक पर चलते हुए भी जगत् की व्यावहारिकता का सदैव ध्यान रहता है।

महाराज जी की विलक्षण प्रतिभा के दिग्दर्शन पृष्ठ दो पर “जैन धर्म प्राणी मात्र का धर्म” प्रसंग में भी होते हैं। अपने धर्म को प्राणी मात्र का धर्म सिद्ध करने के लिए उन्होंने अन्य धर्मों के आचार्यों की भांति शब्द-जाल में उलझाने की चेष्टा न करके अहिंसा परमोधर्म: कहकर जैन धर्म की मूल विशिष्टता का विश्लेषण किया। कबीर के निम्न दोहे को भी उन्होंने स्थान देकर कहा—

“हिन्दू कहता राम हमारा, मुसलमान रहमान हमारा।
आपस में दोउ लड़ते मरते, मरम नहीं कोउ जाननहारा ॥”

फिर वे कहते हैं—“...किसी का भी धर्म श्रेष्ठ नहीं है। अहिंसा परमो धर्म:” इत्यादि।

“शक्ति अनुसार तप” (पृष्ठ १२४) विषयक प्रवचन में प्रवक्ता महाराज की चुटीली व बोलचाल की भाषा का अच्छा समावेश है। पृष्ठ १२६ में—“यदि कोई देव उपवास करना चाहें तो...भोजन स्वयमेव हो जाया करता है।” अथवा उसी पृष्ठ पर अगले पैरा में—“...अतः जिस तरह घोड़े को खिलाते-पिलाते रहो, नियन्त्रण-कंट्रोल न किया जावे तब तक इन्द्रियां भी...इत्यादि” ऐसे अंश हैं जिन्हें साधारण पाठक भी आसानी से समझ कर तदनु रूप अभ्यास कर सकते हैं।

इसी प्रकार के अंश जो कि सर्वधर्म समभाव, ‘अहिंसा परमो धर्म:’ तथा एक मौलिक मानव-धर्म की अप्रत्यक्ष निदर्शना करते हैं, पुस्तक में कई स्थलों पर देखे जा सकते हैं। पुस्तक सभी मानव-समुदायों के लिए उपयोगी है; यह निर्विवाद कहा जा सकता है।

श्री निर्वाण लक्ष्मीपति स्तुति

—अध्यात्म के अनन्त वैभव का फलक

समीक्षक : डॉ० राज बुद्धिराजा

श्री निर्वाण लक्ष्मीपति स्तुति कन्नड़ जैन वाङ्मय की अमूल्य निधि है जिसे सर्वमुलभ बनाया है आचार्यरत्न १०८ श्री देशभूषण जी विद्यालंकार ने। सभी जैन कृतियों की तरह प्रस्तुत कृति भी अध्यात्म के अनन्त वैभव और सौन्दर्य से परिपूर्ण है तथा कृतिकार साधना-तपस्या से अभिमंडित है। सांसारिक वैभव को तुच्छ समझकर सतत साधना द्वारा प्रदत्त अमूल्य उपलब्धियों को, वीतरागी सुजनोत्तम वोष्पण कवि ने, जनसाधारण में बांटकर अभूतपूर्व कार्य किया है।

२८ पद्यों वाला यह लघु स्तुति ग्रन्थ आचार्य श्री द्वारा अनूदित है। उनके अन्य अनूदित ग्रन्थों रत्नाकर शतक, अपराजितेश्वर शतक, भरतेश वैभव, भावनासार, धर्माभूत, योगाभूत तथा निरंजन स्तुति में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह ग्रन्थ भेद-विज्ञान से प्रारम्भ होता है तथा ज्ञान, कर्म और उपासना की अनेकानेक सीढ़ियां चढ़ता हुआ जीव के भव्यरूप की परिकल्पना करता है। वस्तुतः इसमें जीव, ब्रह्म और संसार के स्वरूप का चित्रण किया गया है। जीव के अस्तित्व, ब्रह्म की सर्वशक्तिमता तथा संसार के गमनचक्र का वर्णन कर कृतिकार ने मानवीय अज्ञान-अंधकार को दूर करने का भरसक प्रयत्न किया है। जीव की वस्तुस्थिति को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि वह आत्म-अनात्म स्व-पर का ज्ञान प्राप्त करने के लिए ही ८४ लाख योनियों के जन्म और मृत्यु की वेदना को भोगते हुए केवल मानव-शरीर में ही ज्ञान प्राप्त कर सकता है। जब तक जीव को 'स्व' का ज्ञान नहीं होता तब तक बाह्य सौन्दर्य-ऐश्वर्य में रमण करके अंतहीन पीड़ा भोगता रहता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि विद्या माया और अविद्या माया के चक्रों में फंसकर जीव स्वयं को भूल जाता है। कृतिकार बार-बार मानव का परिचय जीव के इस 'स्व' से कराते हैं जो अंधकार में विलीन हो गया है। मैं कौन हूँ, कहां से और क्यों आया हूँ आदि शाश्वत प्रश्न-सत्यों को उभार कर भेदविज्ञान को उत्तर रूप में प्रस्तुत किया गया है। भेदविज्ञान अर्थात् आत्म-अनात्म, सत्य-असत्य, अंधकार-प्रकाश, मृत्यु-अमृत, जीव-शरीर में भेद दृष्टि ही कालान्तर में मोक्ष का कारण बनती है। मोक्ष प्राप्त करने के लिए बंधनों का खोलना अत्यावश्यक है। जिस प्रकार जन्म और मृत्यु जीव के लिए बंधन का कारण है उसी प्रकार पाप और पुण्य भी बारी-बारी से जीव को बांधते रहते हैं। इसलिए निष्काम भाव से सभी कर्मों को करणीय बताया गया है।

नाना प्रकार के सत्यों में से एक शाश्वत सत्य व्यक्ति का सौभाग्य भी है। वही सौभाग्य जिसके आधार पर भविष्य अर्थात् परलोक निर्मित होता है। सौभाग्यशाली व्यक्ति केवल वही है जो अमृत-पान कर उसे पचाने की क्षमता रखता है। वह व्यक्ति भी कम भाग्यशाली नहीं है जो संयमित जीवन व्यतीत करता है। इन्द्रिय और मन पर अंकुश रखने से मानव तप का जीवन व्यतीत कर सकता है और यही तपश्चर्या उसे शाश्वत सुख प्रदान करती है।

जीव के स्वरूप का विवेचन करने के पश्चात् ग्रन्थकार ब्रह्म के विशद रूप का वर्णन करते हैं। ब्रह्म अनादि और सर्वशक्तिमान है। वही उत्पत्ति और विनाश का कारण है। उसकी लीला अपरम्पार है। पूजा, व्रत तथा उपवास से व्यक्ति ब्रह्म के ज्ञान को प्राप्त कर सकता है। पूजा-उपासना भी प्रकारान्तर से मोक्ष का कारण है। व्यक्ति तब तक पूजा-ध्यान नहीं कर पाता जब तक उस पर गुरु की कृपा नहीं होती। वह ब्रह्म ही आदि गुरु है। उसकी अनुकम्पा से ही जीव आयु भोग और कर्मगत बंधनों से छूट पाता है। सत्य तो यह है कि इसी अनुकम्पा के बल पर जीव के पाश अपने आप खुल जाते हैं, अंधकार दूर हो जाता है और ज्ञान की किरणें विकीर्ण होने लगती हैं। उसका वह अज्ञान दूर हो जाता है जिसके प्रभाव से वह शरीर को आत्मा समझने की भूल कर बैठता है। जबकि शरीर का अन्त केवल भस्म है। वस्तुतः ब्रह्म के अस्तित्व को जाने बगैर मनुष्य इहलोक के दुःखों से छूट नहीं सकता।

जीव और ब्रह्म का तत्त्वज्ञानपरक विवेचन करने के पश्चात् कृतिकार अत्यन्त आकर्षक और लुभावने संसार का दर्शन कराते हैं। संसार वह स्थल है जहां जीव संसरण या भ्रमण करता रहता है। जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त के अनेक सुख-मंगल और दुःख-व्याधि जीव इसी संसार में ही भोगता है। नाना प्रकार के भोगों को भोगकर शरीर को छोड़कर वह एक अनजाने लोक में चला जाता है जिसकी खोज में तपस्वी

और मनीषी अपने तन-मन को गला देते हैं। जीव एक स्थिति से दूसरी स्थिति में कब, क्यों और कैसे चला जाता है यही जानने योग्य विषय है। कौन-सी घड़ी में इसका शिशु रूप यौवन और वृद्धावस्था में पहुंच जाता है? किसी को भी नहीं मालूम। जीव और संसार के इसी आश्चर्य को समझने के लिए लेखक ने मानवमात्र के लिए कुछ आदेश दिये हैं जो परमावश्यक हैं। सत्पात्र को दान देना और व्रत-नियम-निष्ठा प्रमुख हैं। दान के लिए सत्पात्र का होना उतना ही आवश्यक है जितना निर्मल दुग्ध के लिए साफ-सुथरा और मंजा बर्तन। निरंतर व्रत-नियम का पालन करने से व्यक्ति को इसी संसार में ही तत्त्वज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। वस्तुतः व्रत-नियम जीव पर अंकुश का कार्य करते हैं। इसी अंकुश नियन्त्रण से उसे ज्ञान होता है कि काया, लक्ष्मी और यौवन चंचल है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के अंत में कवि शुभ, मंगल, सत्य, अमृत और सुख की कामना करता है। वस्तुतः यह ग्रन्थ अमूल्य है जिसमें जीव, ब्रह्म और संसार का वास्तविक स्वरूप निर्धारित है। भाव अपने आप में इतने सुलझे हैं कि पाठक के मन पर कभी गहरी चोट कर जाते हैं और कभी हृदय को छू जाते हैं। भाव इतने सशक्त हैं कि स्वयमेव भाषा का वस्त्र पहनते चलते हैं। भाषा का कोष इतना समृद्ध है कि लेखक अपनी इच्छा से शब्दों की मुट्टी भरता और बिखेरता रहता है।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि प्रस्तुत ग्रन्थ हिन्दी वाङ्मय को समृद्ध करता है।

